International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 05-04-2025, Accepted: 06-05-2025, Published: 21-05-2025
Volume 11, Issue 2, 2025, Page No. 40-42

भारतीय पर्वों में समाहित सांस्कृतिक चेतना: विद्यानिवास मिश्र के विचारों का मूल्यांकन

सुजाता कुमारी[1], एस वी एस एस नारायण राजू[2]
[1] शोधार्थी, हिंदी विभाग, तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारुर, तमिलनाडु, भारत
[2] अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग, हिंदी विभाग, तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारुर, तमिलनाडु, भारत

सारांश
भारतीय पर्वों में सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना का गहरा समन्वय देखने को मिलता है। विद्यानिवास मिश्र अपने निबंधों में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को एक आध्यात्मिक जागरण के रूप में देखते हैं, जो सत्य, धर्म और प्रेम के पुनर्स्थापन का प्रतीक है। होली को वे सरलता और सामूहिक उल्लास के माध्यम से बुराई पर विजय प्राप्त करने का पर्व मानते हैं। बसंत पंचमी और कुंभ जैसे पर्व प्रकृति, समाज और धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक हैं। उनके अनुसार, भारतीय पर्व न केवल धार्मिक अनुष्ठान हैं, बल्कि ये समाज में एकता, प्रेम और मानवता की भावना को भी प्रबल करते हैं। वे आधुनिक समय में पर्वों के लुप्त होते सार पर चिंता जताते हैं, लेकिन उनका मानना है कि ये पर्व भारतीय संस्कृति की गहरी जड़ों से जुड़े हुए हैं, जो समय के साथ और सुदृढ़ होते जा रहे हैं। उनके विचार इन पर्वों को केवल एक धार्मिक उत्सव नहीं, बल्कि एक गहरे आंतरिक और सामूहिक अनुभव के रूप में देखते हैं।

मूल शब्दः भारतीय पर्व, सांस्कृतिक चेतना, विद्यानिवास मिश्र, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, होली, बसंत पंचमी, कुंभ, धार्मिक सहिष्णुता, समाजिक एकता, आध्यात्मिक जागरण

भारतीय संस्कृति की गहनता और विविधता उसके पर्वों में सजीव रूप में देखने को मिलती है। इन पर्वों के माध्यम से न केवल धार्मिक और सामाजिक परंपराओं का निर्वहन होता है, बल्कि समाज में सांस्कृतिक चेतना भी जागृत होती है। विद्यानिवास मिश्र ने भारतीय पर्वों को केवल उत्सव के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्हें एक ऐसी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप में माना, जो भारतीय जीवन और उसकी जड़ों से गहराई से जुड़ी हुई है।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी केवल एक तिथि या पर्व नहीं है, यह भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना का वह अमूल्य क्षण है, जब ब्रह्मांडीय ऊर्जा सजीव हो उठती है । विद्यानिवास मिश्र के अनुसार, यह पर्व एक साधारण अनुष्ठान न होकर एक व्यापक तपस्या और जागृति का प्रतीक है । वे इस विशेष अवसर की महत्ता को इस प्रकार वर्णन करते हैं कि – "श्रीकृष्ण जन्म होकर भी जब तक पूरी तरह प्रतीत नहीं होगा, अंग–प्रत्यंग में, भाव–अनुभाव नें और कण–तरंग में तब तक जन्मोत्सव कैसा? इस जन्मोत्सव के लिए कोई न मुनादी होती है, न कोई पर्चा बँटता है, इसके लिए भीतर से शिराओं में उबाल आता है, नस–नस उत्तप्त हो जाती है, मन उत्तरवाहिनी गंगा बन जाता है, सृष्टि सावधान होकर पर्युत्सुक हो जाती है – श्रीकृष्ण का आविर्भाव होने जा रहा है। वह तैयारी हो रही है या नहीं, यही जाँचने–पड़तालने की जरूरत है, क्योंकि श्रीकृष्ण जन्माष्टमी साधारण अनुष्ठान नहीं है, एक विश्वभावनशील महाजाति के दुर्जर तप की परिणिति है, कोटि–कोटि उपवासों का पारण है, असंख्य नक्षत्रों की चंद्रोदय–प्रतीक्षा की परिसमाप्ति है, निरंतर धारासारवृष्टि की झनकार है । वही श्रीकृष्ण जन्माष्टमी आ रही है ।"[1] श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का यह उत्सव न केवल भगवान कृष्ण के अवतरण का स्मरण है, बल्कि यह मानव जीवन में सत्य, धर्म, और प्रेम के पुनर्स्थापन का प्रतीक भी है । विद्यानिवास मिश्र ने इस उत्सव को केवल एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में नहीं देखा है, बल्कि इसे एक गहरे आंतरिक अनुभव और आध्यात्मिक जागरण के रूप में प्रस्तुत भी किया है। उक्त कथन इस बात पर बल देता है कि जब तक श्रीकृष्ण का अनुभव मन और हृदय की हर कण–कण में नहीं होता, तब तक इस उत्सव का वास्तविक अर्थ नहीं खुलता है।

भारतीय पर्वों की विशेषता यह है कि इनमें समाज और प्रकृति के साथ–साथ धर्म और इतिहास का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। हर पर्व के पीछे कोई न कोई पौराणिक कथा, ऐतिहासिक घटना या सामाजिक परंपरा जुड़ी होती है, जो उसे विशेष बनाती है। होली भी ऐसा ही एक पर्व है, जिसका प्रारंभ केवल रंगों और हंसी–ठिठोली से नहीं, बल्कि पौराणिक और धार्मिक परंपराओं से हुआ है। होली की शुरुआत को लेकर विभिन्न कथाएं प्रचलित हैं, जिनमें से एक प्रमुख कथा राक्षसी ढोढा से संबंधित है। ढोढा नामक राक्षसी का रघु के राज्य में आतंक इतना बढ़ गया था कि उसे मारने का कोई उपाय नहीं मिल पा रहा था । इस राक्षसी की कथा इस पर्व के सामाजिक और धार्मिक पक्ष को उजागर करती है। विद्यानिवास मिश्र इस संबंध में लिखते हैं कि – "ढोढा नामक राक्षसी रघु के राज्य में ऐसी दरन्त हुई कि वह किसी चीज से मरती नहीं थी । शिव से उसे वरदान प्राप्त था । केवल क्रीड़ा करने वाले बच्चों से भय खाती थी । इसलिए गुरु वशिष्ठ ने विधान बतलाया कि बच्चे लकड़ी के छोटे–छोटे टुकड़े लेकर बाहर निकलें और सूखी घास के ढेर में आग लगाएँ, तालियाँ बजाएँ, अग्नि की परिक्रमा करें । लोक–भाषा में गालियां गायें, हँसे–ठठायें – यह राक्षसी मर जाएगी। तब से होलका या होली शुरू हुई ।"[2] ढोढा राक्षस की कथा से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय पर्व केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, बल्कि उनमें सामाजिक और सांस्कृतिक संदेश भी छिपे होते हैं । होलिका या होली का प्रारंभ बच्चों की मासूम क्रीड़ा और सामूहिक प्रयास से हुआ, जिसने बुराई का अंत कर दिया । इस कथा में निहित है कि जीवन में अच्छाई, सरलता और हंसी–ठिठोली से भी बुराई पर विजय प्राप्त की जा सकती है। वे आगे लिखते हैं कि – "इस कथा का अभिप्राय यही लगता है की जड़ता का त्रास ही होलका राक्षसी है और इस त्रास को बालसुलभ मुक्त उल्लास, समवेत क्रीड़ा और निर्बंध भाषा से ही दूर किया जा सकता है। आज भी गांवों में लोग कहते हैं – पुराबा वर्ष भूत की तरह सिर पर चढ़ा हुआ था । उसे फूँक दें, उसकी भभूत रमाकर नये वर्ष में प्रवेश करें ।"[3] विद्यानिवास मिश्र का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि होली मात्र रंगों का पर्व नहीं है, बल्कि यह मानसिक और आध्यात्मिक जड़ता से मुक्ति का प्रतीक भी है। इस पर्व का सार यही है कि समाज की

ठहराव वाली मानसिकता, जो किसी भूत की तरह सिर पर सवार होती है, उसे होलिका दहन के माध्यम से समाप्त किया जाए। पुरानी नकारात्मकता को समाप्त करके, उसकी भभूत को रमाकर, समाज एक नई ऊर्जा और उमंग के साथ नए वर्ष में प्रवेश करता है। यह प्रक्रिया केवल आग जलाने और रंग खेलने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक आंतरिक चेतना का जागरण है। जड़ता, जो समाज में बुराई, अज्ञानता और विभाजन का कारण बनती है, उसे बालसुलभ आनंद, हंसी–ठिठोली और सामाजिक एकता से हराया जा सकता है। बच्चों की मासूमियत, उनकी निश्छलता और उनकी सामूहिकता ही उस शक्ति का प्रतीक है, जो समाज को जागरूक और प्रगतिशील बना सकती है।

भारतीय संस्कृति के अंतर्गत होली सदैव से रंगों और खुशियों का उत्सव रहा है। होली का असली मर्म ही यही है कि लोग अपने सारे मतभेद, दुश्मनियाँ और भेदभाव भूलकर एक–दूसरे के साथ मिलकर इस पर्व को मनाएं । लेकिन समय के साथ इस उत्सव में भी औपचारिकता और दिखावे ने अपनी जगह बना ली है। होली, जो पहले सहजता और स्वाभाविक आनंद का उत्सव हुआ करती थी, आज एक औपचारिकता बनकर रह गई है। लोग मिलते तो हैं, पर असली उल्लास कहीं खो सा गया है। यह पर्व, जो कभी आत्मीयता और निश्छलता का प्रतीक था, अब बड़ी योजनाबद्ध सभाओं और आयोजनों तक सिमट गया है, जिसमें उल्लास की आत्मा दब गई है। विद्यानिवास मिश्र इस ओर इशारा करते हुए लिखते हैं कि – "आज होली उपचार होकर रह गई है, लोग होली–मिलन समारोह करते हैं, बड़े योजनाबद्ध रूप में, पर कहीं ज्वार तो दिखता नहीं, शालीनता की नकाब चढ़ी रहती है । उल्लास दुबका रहता है। लोग समझते हैं कि नशा करने से उल्लास आ जाएगा, नशा करते हैं, पर होली का नशा बाहर के किसी मादक द्रव्य से नहीं होता। वह होता है भीतर के मादन भाव से ।"[4] विद्यानिवास मिश्र का यह विचार वर्तमान समय की होली के खोते हुए सार की ओर इशारा करता है। आज का समाज इस पर्व को बाहरी ढोंग और औपचारिक आयोजनों तक सीमित कर चुका है, जहाँ सच्ची आत्मीयता और सहज उल्लास कहीं छिप गए हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि होली का असली नशा किसी मादक द्रव्य से नहीं, बल्कि भीतर से उठने वाले मादन भाव से आता है – वह भाव जो जीवन के उत्सव का प्रतीक है और जो हृदय के अंदर छिपे आनंद और सृजनात्मकता को प्रकट करता है।

समय के बदलने के साथ ही भारतीय पर्व–त्योहारों का स्वरूप भी बदल रहा है। होली भी इस परिवर्तन से अछूती नहीं रही है। पहले जहाँ होली का पर्व जीवन में उत्साह और सामूहिक आनंद का संदेश लेकर आता था, वहीं अब इस पर्व में दिखावे, प्रतिस्पर्धा और सांस्कृतिक क्षरण की छाया पड़ने लगी है। पारंपरिक होली, जिसमें स्वाभाविकता और सामूहिक हंसी–ठिठोली प्रमुख थे, अब धीरे–धीरे औपचारिकता और अश्लील गाने की ओर बढ़ रही है विद्यानिवास मिश्र ने इस संदर्भ को रेखांकित करते हुए लिखा है कि – "होली के गीतों की आकाशवाणी नियंत्रित धुनें आ गई हैं, न छूटने वाले रंगों और रोगनों का आतंक आ गया है और धर्मयुग की पाती आ गी है कि होली के सांस्कृतिक महत्त्व पर लिखें। शिवशम्भू शर्मा भी बनकर क्या लिखें। अब हँसी–ठिठोली की जगह ले ली है कुत्सित, विरूप और जुगुप्सित आक्षेप ने।"[5] वर्तमान समय में होली के पारंपरिक गानों की जगह अश्लील गाने बजने लग गए हैं। रंगों में केमिकल की मात्रा भरपूर हो गई है। अब यह त्योहार अपने उसी रूप में नहीं है जैसा कुछ वर्षों पूर्व था ।

भारतीय संस्कृति में पर्वों का विशेष महत्व है, और हर पर्व कहीं न कहीं प्रकृति से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। प्रकृति के बदलते स्वरूप और ऋतुचक्रों के साथ जुड़कर भारतीय पर्व न केवल धार्मिक या सामाजिक आयोजनों तक सीमित रहते हैं, बल्कि वे समाज में सांस्कृतिक चेतना और जीवन की उत्सवधर्मिता को भी साकार करते हैं। विशेष रूप से, बसंत पंचमी को प्रकृति के उत्सव का प्रतीक माना जाता है, जहां ऋतु का सौंदर्य और लोकमानस की उमंग एक साथ दिखाई देते हैं। विद्यानिवास मिश्र ने बसंत पंचमी को लोक से सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि – "आज वसंतपंचमी है, सरस्वती–पूजा और वसंत–स्वागत दोनों करने का आज विधान है और हमारी पूजा और स्वागत के विहित उपकरण है रू आम के बौर। आम हमारे देश का रसमय फल है, साथ ही हमारे गांवों के उपांत का सबसे बड़ा शृंगार। हमारी लोक–कल्पना में सौन्दर्य के साफल्य और मांगल्य के प्रतीक रूप में वह गृहीत है। आम के बौर से वर–वधू की मौलि सजाने का विधान है, स्वपन में आम की गौध देखने पर पुत्रोत्पत्ति–का फलादेश है। आम्र–पल्लवों से ढँके बिना मंगलकलश की मंगलवारि असुरक्षित है, आम्र–मंजरी के प्राशन में सर्पविष–निवारण की क्षमता मानी जाती है ।"[6] विद्यानिवास मिश्र आम के बौर जैसे प्राकृतिक प्रतीकों को लोकजीवन की समृद्ध परंपराओं और सांस्कृतिक आस्थाओं से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार, भारतीय संस्कृति में हर तत्व – चाहे वह कोई पेड़ हो, फूल हो, या फल – एक गहरे सांस्कृतिक और सामाजिक अर्थ का वाहक है। आम के बौर केवल पेड़ के फल नहीं, बल्कि सामाजिक और पारिवारिक संस्कारों में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। चाहे वह वर–वधू की मौलि सजाने का विधान हो या मंगलकलश की शोभा बढ़ाने का, ये प्रतीक आज भी समाज की सांस्कृतिक चेतना और लोक–परंपराओं की पुष्टि करते हैं।

भारतीय संस्कृति में कुंभ के पर्व का बहुत महत्व है, यह पर हर 12 वर्षों के अंतराल पर चार प्रमुख स्थलों – प्रयागराज (उत्तर प्रदेश), हरिद्वार (उत्तराखंड), उज्जैन (मध्य प्रदेश) और नासिक (महाराष्ट्र) – पर आयोजित होता है । इस पर्व का उद्देश्य मानव जीवन में आत्मशुद्धि, मोक्ष की प्राप्ति और पुण्य अर्जन का अवसर प्रदान करना है। पौराणिक कथा के अनुसार, समुद्र मंथन के समय अमृत कलश से निकली अमृत बूंदों का इन चार स्थलों पर गिरना, इन स्थलों को विशेष धार्मिक महत्व प्रदान करता है। इसलिए, कुंभ मेले के दौरान इन स्थानों पर स्नान करने को आत्मिक शुद्धि का माध्यम माना जाता है। कुंभ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि यह भारतीय सांस्कृतिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक मेलजोल का प्रतीक है। कुम्भ में जाने के बाद धर्म, मजहब और जाति की खाइयाँ मिट जाती है । वहाँ सभी एक–दूसरे की परंपरा, भाषा और संस्कृति से परिचित होते हैं। एकरूपता और समानता के इस महत्व को रेखांकित करते हुए विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं कि – "जिसमें आदमी भूल जाता है, ब्राह्मण है, शूद्र है, वृद्ध है, बालक है, अमुक देस–कोस का है, अमुक का अमुक है, नहाकर निकलता है तो अमुक से बचाकर नहीं चलता । उसे किसी रोग या दोष के संक्रमण का भय नहीं घेरे रहता, वह सोचकर चलता है कि जंगम पुण्य–पिंडों के साथ चल रहा है वह पुण्य वासना से वासित है, जिस जल की बूंदें अभी माथे में है वह जल विराट संतरण है, पाप का भी, पुण्य का भी, दोनों की वासना धोनेवाला । वह जल जल नहीं, ऐसी वत्सल माता को स्तन्य है, जो ममता देती भी है और ममता बटोरती भी है, किसी के पास उसकी अपनी ममता या छोह रहने नहीं देती, सब उड़ेलवा देती है और तब अपनी ममता देती है, अपना–अपना छोह देती है कि निकलो तो विराट ममता लेकर निकलो, सबको अपनाने का भाव लेकर निकलो, अपने अंग–अंग में गोविंद (गायों, गँवारों, गँवारिनों के पीछे बावले गोविंद) की ज्योति बिन्दु छलका कर निकलो ।"[7] इस प्रकार, कुम्भ पर्व केवल एक धार्मिक आयोजन नहीं है, बल्कि यह मानवता की साझा यात्रा का प्रतीक है, जो हमें सिखाता है कि हम सभी एक ही परिवार का हिस्सा हैं, चाहे हम किसी भी जाति, धर्म या संस्कृति से हों।

इस प्रकार, भारतीय पर्व न केवल धार्मिक अनुष्ठानों का माध्यम हैं, बल्कि इनमें गहन सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना भी समाहित है। विद्यानिवास मिश्र के विचार में ये पर्व मात्र उत्सव नहीं, बल्कि भारतीय जीवन के मौलिक तत्वों और उसकी समृद्ध परंपराओं का जीवंत प्रतीक भी हैं। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को वे आध्यात्मिक जागरण और तपस्या की परिणति मानते हैं, जो सत्य, धर्म और प्रेम के पुनर्स्थापन का द्योतक है। होली को वे सरलता और सामूहिक उल्लास के माध्यम से बुराई पर विजय का पर्व मानते हैं, हालाँकि आधुनिक समय में इसके सार के लुप्त होने पर चिंता भी व्यक्त करते हैं । बसंत पंचमी और कुंभ जैसे पर्व प्रकृति और समाज से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं, जहाँ सामूहिक चेतना और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है। इन पर्वों के माध्यम से न केवल आध्यात्मिक प्रगति होती है, बल्कि समाज में एकता, प्रेम और मानवता की भावना भी प्रबल होती है, जो समय के साथ और भी सुदृढ़ होती चली जाती है।

संदर्भ

1. भारतीयता की पहचान, विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – 2008, पृष्ठ संख्या – 107
2. वही, पृष्ठ संख्या – 111
3. वही, पृष्ठ संख्या – 111
4. वही, पृष्ठ संख्या – 111
5. वही, पृष्ठ संख्या – 113
6. आँगन का पंछी और बनजारा मन, विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – 2010, पृष्ठ संख्या – 23
7. कौन तू फुलवा बीननिहारी, विद्यानिवास मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण – 1980, पृष्ठ संख्या – 16–17